एक सामान्य आधार की खोज - शिक्षा से सम्बन्धित कुछ बहसें

निमरत खण्डपुर

शिक्षा नीति के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिन पर काफी बहस होती रही है। इस लेख में यह प्रयास किया गया है कि शिक्षा में निवेश, प्रौद्योगिकी शिक्षण, व्यावसायिक शिक्षा, शिक्षक की जवाबदेही और कक्षा में रोके न जाने की नीति से सम्बन्धित बहसों के बारे में व्यापक चर्चा प्रस्तुत की जाए। विचार यह है कि इन क्षेत्रों के साथ में अन्य क्षेत्रों की जाँच भी की जाए और यह जाँच संवैधानिक मूल्यों एवं साम्यता, पहुँच तथा गुणवत्ता के सरोकारों के आधार पर की जाए। नीति की रचना शोध आधारित साक्ष्य और शिक्षा के मूल सिद्धान्तों-दोनों को ध्यान में रखते हुए की जानी चाहिए।

सन्दर्भ

सभी नागरिकों की शिक्षा तंत्र में हिस्सेदारी है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि शिक्षा के सम्बन्ध में सभी नागरिकों के विचार दृढ़ हैं। जमीनी स्तर से राष्ट्रीय शिक्षा नीति को विकसित करने के हाल के प्रयासों ने इस विश्वास को परिलक्षित किया है, भले ही उस प्रयास के महत्व के बारे में कोई भी विचार हो।

कुछ चर्चाएँ काफी दिलचस्प हैं। उदाहरण के लिए कुछ राज्यों में पंचायत स्तर की चर्चाओं के दौरान माता-पिता ने सभी स्कूलों को अँग्रेजी माध्यम का बनाने की सिफारिश की, जो मौजूदा नीति से सम्बन्धित नहीं है। शोध के सबूत भी स्पष्ट रूप से यह इंगित करते हैं कि प्रारम्भिक वर्षों के दौरान शिक्षा का माध्यम घर की भाषा/मातृभाषा होनी चाहिए। पर अँग्रेजी को सामाजिक गतिशीलता के साधन के रूप में देखा जाता है; और सरकारी स्कूलों में न जाने के कारणों में से एक कारण यह भी है कि निजी स्कूलों की गुणवत्ता चाहे कैसी भी हो, लेकिन वहाँ अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाती है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि नीति निर्माताओं और आम व्यक्ति के मध्य नीति को लेकर कोई असहमति है। अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि नीति में जमीनी स्तर और गहन शोध अध्ययनों के प्रमाणों पर ध्यान नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए हमारे पास इस बात के एक सदी से भी अधिक की समयावधि के प्रमाण हैं कि अगर बच्चे को किसी कक्षा में रोक दिया जाए तो जरूरी नहीं कि वह उस कक्षा में अपेक्षित योग्यताएँ प्राप्त कर लेगा। इसके लिए तो व्यवस्थागत और कक्षा-आधारित उपायों की आवश्यकता है। अधिगम के अच्छे परिणामों के लिए कई कारक जिम्मेदार होते हैं। ऐसे में अच्छे परिणामों के लिए केवल शिक्षक को उत्तरदायी ठहराकर उनसे प्रभावकारी ढंग से कार्य करने की अपेक्षा करना एक अलग मामला है।

और फिर यह सवाल अक्सर पूछा जाता है कि जब हमारी शैक्षिक नीतियों में एक जैसी रुकावटें हैं तो इसका कार्यान्वयन इतना कठिन क्यों है? और जब वे कार्यक्रमों और योजनाओं का रूप ले लेती हैं तो इन्हें आमतौर पर अस्थायी क्यों समझा जाता है और जमीनी स्तर पर इनका कम प्रभाव क्यों पड़ता है?

इन बातों के कई कारण हो सकते हैं जैसे आर्थिक और मौजूदा प्राथमिकताएँ, उन समस्याओं के लिए अल्पावधि समाधान की तलाश करना जो लम्बे समय से मौजूद हैं और जिनकी जड़ें गहरी जमी हुई हैं, यह सच्चाई कि शोध के प्रमाण शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत लोगों और अध्यापकों तक नहीं पहुँचते - ये तो हुए व्यवहारिक विचार। इसके अलावा गहन रूप से जमे हुए विश्वास और निहित स्वार्थ भी इन्हें प्रभावित करते हैं। इतना तो निश्चित है कि शिक्षा के कुछ क्षेत्रों के बारे में कई तरह विचार प्रचलित हैं जिनका कड़ा प्रतिवाद होता ही रहता है।

ये प्रतिवाद या बहसें कुछ बुनियादी सवाल उठाते हैं जैसे हमारे देश में नीति निर्माण की प्रक्रिया कितनी लोकतांत्रिक है, क्या नीति से जुड़े सभी क्षेत्रों को सर्वसम्मति मिल सकती है, क्या नीति निर्माण शैक्षिक सरोकारों से संचालित होना चाहिए या लोकप्रियता से, नीति व्यवहार्यता से कितनी अवगत है, नीति निर्माण में हम पेशेवर लोगों की भागीदारी कैसे पा सकते हैं, हम हितधारकों के समक्ष नीति की प्रासंगिकता का पक्षसमर्थन कैसे करें - यह सूची काफी लम्बी है और प्रश्न बेहद जटिल। लेकिन इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करने से पहले शिक्षा के उन क्षेत्रों की जाँच करना उपयोगी होगा जिन पर विवाद होता है।

शिक्षा नीति के जिन क्षेत्रों पर विवाद होता है वे हैं-शिक्षा में निवेश, स्कूलों में शिक्षण का माध्यम, शिक्षण-अधिगम में तकनीकी का उपयोग, प्रारम्भिक बाल्यावस्था शिक्षा, शिक्षा में व्यावसायिक/कौशल विकास, शिक्षक जवाबदेही, अधिगम की गुणवत्ता का आकलन करने के लिए मानकीकृत आकलन,

कक्षा में रोके न जाने की नीति, शोध व प्रमाण आधारित नीति का निर्माण, निजीकरण, विशेष आवश्यकताओं वाले बच्चों की शिक्षा इत्यादि। आगे इनमें कुछ विषयों से सम्बन्धित बहसों को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

शिक्षा में निवेश

शिक्षा में निवेश के लिए 6% जी.डी.पी.की माँग लगभग आधी सदी पहले ही राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 में की गई थी, जिसमें कहा गया था कि 'शिक्षा में धीरे-धीरे निवेश बढ़ाने का लक्ष्य होना चाहिए ताकि राष्ट्रीय आय के 6% व्यय के स्तर तक जल्द से जल्द पहुँचा जा सके'। इस सिफारिश का सन्दर्भ देते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1992 में कहा गया कि 'चूँकि शिक्षा में वास्तविक निवेश उस लक्ष्य से काफी कम रहा है, इसलिए यह जरूरी है कि इस नीति में निर्धारित कार्यक्रमों को निधि (फंड) मुहैया कराने पर अधिक ध्यान दिया जाए'। नीति में सिफारिश की गई कि शिक्षा पर परिव्यय बढ़ाया जाए ताकि आठवीं पंचवर्षीय योजना के बाद से यह समान रूप से राष्ट्रीय आय के 6% से अधिक हो जाए।

लेकिन पिछले तीन दशकों में शिक्षा में निवेश का औसत जी.डी.पी. के 3.5% से भी कम है। अगर हम उन देशों पर नजर डालें जो शिक्षा के सर्वव्यापीकरण को प्राप्त कर चुके हैं तो उनका न्यूनतम निवेश जी.डी.पी. का 6% है। लेकिन आज के भारत में जी.डी.पी. का 6% निवेश भी अपर्याप्त है। राष्ट्रीय सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम की कमेटी की शिक्षा के लिए जी.डी.पी. की 6% की प्रतिबद्धता थी (लोकप्रिय रूप में जिसे मजूमदार समिति के रूप में जाना जाता है), जिसने 2005 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी और सिफारिशों के अनुसार यह सुझाव दिया था कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जी.डी.पी. के 8-10% की जरूरत होगी (निजी क्षेत्र, समुदाय, माता-पिता और विद्यार्थियों द्वारा किए गए योगदान को छोड़कर)।

इस प्रकार नीति की सिफारिशों में शिक्षकों, नेतृत्वकर्ताओं व संस्थानों से की जाने अपेक्षाएँ तो बढ़ी हैं लेकिन इन अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए जिन संरचनाओं और प्रक्रियाओं की जरूरत होती है जैसे ढाँचा, संसाधन, भर्ती, सहायककर्मी और संस्थाएँ आदि-उनमें पर्याप्त निवेश नहीं किया गया है।

शिक्षण-अधिगम में तकनीकी का उपयोग

स्कूली शिक्षा के साथ में तकनीकी को जोड़ने के लिए 1970 के मध्य से ही कार्यक्रम और योजनाएँ चालू हो गई थीं। अब सूचना और संचार तकनीक (आई.सी.टी.) के उपयोग और पहुँच में आसानी होती जा रही है, अतः इसे पहुँच और गुणवत्ता में सुधार में योगदान देने वाले कारक के रूप में देखा जाने लगा है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005 में आई.सी.टी. को 'सामाजिक खाई पाटने का अहम औजार' कहा गया है और इस बात की सिफारिश की गई है कि इसका उपयोग 'इस तरह से होना चाहिए कि यह सूचना, सम्प्रेषण और कंप्यूटिंग संसाधनों को दूर-दराज के इलाकों तक पहुँचाए'। स्कूली शिक्षा में सूचना और संचार तकनीक पर राष्ट्रीय नीति, 2012 में आई.सी.टी. को सर्व शिक्षा अभियान और राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के तहत गुणवत्ता सुधार के लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधन के रूप में देखा गया।

तकनीक का उपयोग करने के लिए पहले पहुँच और फिर बैक अप सहायता (बिजली, मरम्मत और रखरखाव) की आवश्यकता होती है। इसके बिना तकनीक का एकीकरण व्यर्थ है। उदाहरण के लिए, आइए, हम ग्रामीण विद्युतीकरण की स्थिति पर विचार करें। ग्रामीण विद्युत आपूर्ति कितने घण्टों के लिए होगी और उसकी पैठ/प्रवेश स्तर कितना होगा दोनों की दशा ठीक नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में बिजली के कनेक्शन और कनेक्टिविटी के बिना तकनीक का प्रयोग अर्थहीन होगा, भले ही बुनियादी संरचना मौजूद हो।

साथ ही शोध के प्रमाण बताते हैं कि शिक्षा में तकनीक को एकीकृत करने के लिए केवल बुनियादी ढाँचा पर्याप्त नहीं है। स्कूल की कक्षा में तकनीक केवल तभी काम करती है जब शिक्षकों से सम्बन्धित मुख्य मुद्दों को सम्बोधित किया जाता है। ये मुद्दे हैं-विषय और शैक्षणिक योग्यता के साथ में अवलोकन के माध्यम से आई.सी.टी. के बारे में विकसित उनके व्यक्तिगत सिद्धान्त, अन्तःक्रिया, निर्देश या निष्कर्ष, आत्मविश्वास और अभिप्रेरण। इसके अलावा आई.सी.टी. के प्रयोग में विद्यार्थी-क्षमता और शिक्षक के लिए तकनीकी और शैक्षणिक दोनों प्रकार की सहायता भी आई.सी.टी. के प्रयोग की प्रासंगिकता को प्रभावित करती है। शिक्षकों को जोड़ने और नए शोध व ज्ञान तक पहुँच प्रदान करने के लिए तकनीक

उपयोगी है लेकिन यह तभी कारगर हो सकती है जब उपर्युक्त प्रमुख मुद्दों का समाधान प्राप्त कर लिया जाए।

व्यावसायिक शिक्षा

भारत में व्यावसायिकता के बारे में औपनिवेशिक काल से ही चर्चा होती रही है। जाहिर है ऐसा 'शैक्षिक अत्युत्पादन' को रोकने के लिए था जिसका कारण यह था कि 'ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम पर लगने की बजाय युवक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते और यह शिक्षा ग्रामीण कार्य के लिए पर्याप्त नहीं थी'। (तिलक, 1998) स्वतंत्रता के बाद मुदलियार आयोग ने माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रमों के विविधीकरण की सिफारिश की, जबकि कोठारी आयोग ने दस साल की सामान्य शिक्षा के बाद उच्च माध्यमिक स्तर पर दो साल की व्यावसायिक शिक्षा का सुझाव दिया।

अनेक शैक्षिक समस्याओं के समाधान के रूप में व्यावसायिक शिक्षा का प्रस्ताव रखा गया था जैसे, उच्च शिक्षा की अनियंत्रित माँग को नियंत्रित किया जा सकता था, उच्च शिक्षा के बजट को कम करने से शिक्षा में वित्तीय संकट कम हो सकता था और कॉलेज और माध्यमिक स्कूल के स्नातकों की बेरोजगारी कम की जा सकती थी। 1968 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने व्यावसायिक शिक्षा के लिए सुविधाएँ बढ़ाने और उसमें विविधता लाने की सिफारिश की ताकि 'विकासशील अर्थ व्यवस्था की आवश्यकताओं और रोजगार के वास्तविक अवसरों की जरूरतों के अनुरूप हुआ जा सके'। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 (1992 में संशोधित) में एक पूरा खण्ड व्यावसायिक शिक्षा को समर्पित किया गया और यह सिफारिश की गई कि व्यावसायिक शिक्षा को कक्षा VIII के बाद एक अलग धारा के रूप में प्रस्तुत किया जाए।

व्यावसायिक शिक्षा को हमेशा कम दर्जा ही दिया गया है जबकि लिबरल एजूकेशन को उच्च शिक्षा और वांछनीय व्यवसाय प्राप्त करने के मार्ग के रूप में देखा जाता रहा है। व्यावसायिक शिक्षा को अन्तिम विकल्प के रूप लिया जाता है, एक ऐसा विकल्प जिसे सामान्य शिक्षा के क्षेत्र में खराब प्रदर्शन करने पर तथा कोई और विकल्प न बचने पर चुना जाता है। आर्थिक मजबूरियों के चलते कम उम्र में ही काम शुरू करने के साथ भी इसे जोड़ा गया है, जिससे इस विकल्प को अपनाने में वंचित पृष्ठभूमि के बच्चों की संख्या सर्वाधिक होती है। इसके परिणामस्वरूप व्यावसायिक शिक्षा और प्रशिक्षण प्राप्त लोगों को सामान्यतया साधारण नौकरियाँ मिलती हैं और इन कोर्सों को करने वाले खुद को कमतर समझने लगते हैं। दूसरी ओर शिक्षा विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक नहीं हो सकती- आजीविका कमाना महत्वपूर्ण है और इस क्षमता को जल्द ही शुरू कर देना चाहिए। सभी बच्चों को कार्यस्थल की समझ होनी चाहिए और साथ ही कुछ मौलिक क्षमताओं का विकास भी करना चाहिए जैसे प्रश्न पूछने और आलोचना करने की क्षमता, समस्याओं को सुलझाना और सोच-समझ कर निर्णय लेना।

वर्तमान में नीति की व्यापक सिफारिश यह है कि व्यावसायिक शिक्षा आकांक्षापूर्ण हो, रोजगार योग्यता सम्बन्धी कौशलों और उद्यमशीलता को विकसित करने वाली हो और देश के सभी स्कूलों के 25% स्कूल नवीं कक्षा से व्यावसायिक शिक्षा का विकल्प देते हों। पर जमीनी स्तर पर जो हालत है, वह इस सिफारिश की पूर्ति के बारे में आश्वस्त नहीं करती।

शिक्षक जवाबदेही

मुख्य रूप से शिक्षकों को ही बच्चों के अधिगम के लिए जिम्मेदार माना जाता है। शिक्षण-अधिगम की गुणवत्ता में सुधार लाने के उद्देश्य से जो कार्यक्रम व हस्तक्षेप मौजूद हैं उन्हें लागू तो शिक्षक ही करेंगे, तो इस दृष्टि से भी शिक्षकों को महत्वपूर्ण माना जाता है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में कहा गया है कि 'शिक्षा की कोई भी व्यवस्था अपने अध्यापकों की श्रेष्ठता से ऊपर नहीं उठ सकती और अध्यापकों की श्रेष्ठता उन्हें चुनने के साधन, प्रशिक्षण प्रक्रिया और उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने के लिए प्रयुक्त नीतियों पर निर्भर करती है।' पर साथ ही शिक्षकों की स्वायत्तता को शीर्ष-पाद उपागम (top-down approach), शिक्षक तैयारी के कार्यक्रमों और शिक्षक सहायता व्यवस्था के माध्यम से व्यवस्थित रूप से नकार दिया गया है। शिक्षक तैयारी के कार्यक्रम परम्परागत प्रक्रियाओं का पालन करते हैं, ये ऐसे शिक्षक तैयार नहीं करते जो चिन्तनशील हों। शिक्षक सहायता व्यवस्था की बात आँकड़े जमा करने और सूचनाएँ प्रसारित करने तक सीमित हो गई हैं।

कुछ देशों में मानकीकृत परीक्षणों पर विद्यार्थियों के द्वारा दिए जाने वाले अंकों (स्कोर) के आधार पर शिक्षकों का

मूल्यांकन, पुरस्कृत करना या नौकरी से निकाला जाता है। लेकिन इस बात का कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि जिन शिक्षकों के विद्यार्थी खराब प्रदर्शन करते हैं वे वाकई 'कमजोर' हैं या फिर उन्हें अधिक 'प्रभावी' शिक्षकों से बदला जा सकता है। हालाँकि कुछ वास्तविक सबूत और लघु अध्ययन उपलब्ध हैं लेकिन उन निष्कर्षों का सामान्यीकरण में विस्तार नहीं किया जा सकता। इस बात का कोई ठोस सबूत नहीं है अगर विद्यार्थियों के प्रदर्शन में बेहतरी होने पर शिक्षकों को प्रोत्साहन दिया जाए तो उनके अभिप्रेरण में सुधार होगा। दूसरी ओर इस बात के सबूत सामने आ रहे हैं कि 'परीक्षा-आधारित जवाबदेही' वास्तव में शिक्षक को कमजोर बनाती है, उनके मनोबल को घटाती है और पाठ्यक्रम को परीक्षा में जितना पूछा जाएगा, उतने तक सीमित कर देती है। किस चीज का आकलन होना है-यह बात परीक्षण की प्रकृति से सीमांकित हो जाती है-यह काफी हद तक विश्वसनीयता और वैधता तथा स्कोरिंग की आसानी और निरन्तरता की आवश्यकता से प्रेरित है। परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर किए जाने वाले अधिकांश आकलन बहुविकल्पीय प्रश्नों का निर्माण करते हैं। बच्चे पूछताछ व चिन्तन कैसे करते हैं, सवाल कैसे पूछते हैं, समस्याएँ कैसे सुलझाते हैं, अपने ज्ञान का व्यवस्थापन कैसे करते हैं, समूह कार्य में उनका योगदान कैसा होता है-इस तरह की बातों का आकलन नहीं हो पाता।

इस बात के भी पर्याप्त प्रमाण हैं कि शिक्षक-शिक्षा, लाइसेंस, भर्ती और व्यावसायिक विकास से सम्बन्धित नीतियाँ विद्यार्थियों के प्रदर्शन में सुधार से सम्बन्धित हैं। स्कूल में अगर सहयोगात्मक वातावरण हो और चिन्तन व सहभागिता के लिए समय मिलता हो तो इनसे भी शिक्षक की प्रभावशीलता बेहतर होती है। जब शिक्षकों को उनसे की जाने वाली अपेक्षाओं और इन अपेक्षाओं के औचित्य के बारे में स्पष्ट रूप से बताया जाता है और उन्हें शैक्षिक प्रक्रियाओं में साझेदार बनाया जाता है, उन्हें केवल एक प्राप्तकर्ता नहीं माना जाता; तो ऐसी स्थिति उनकी जवाबदेही बढ़ी है।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न जो पूछा जाना चाहिए वह यह है कि क्या शिक्षकों को विद्यार्थियों के अधिगम के लिए जवाबदेह मानने के लिए यह सरल दृष्टिकोण उचित है? वह भी ऐसी हालत में जब न तो शिक्षकों के काम करने की परिस्थितियों और वातावरण की जाँच की जाती है और न ही उन्हें अपने सेवाकालीन विकास के अवसर और समर्थन दिए जाते हैं।

कक्षा में रोके न जाने की नीति

भारत में कक्षा में रोके न जाने की अवधारणा नई नहीं है। बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम 2009 (आर.टी.ई.) का अधिकार लागू होने से पहले 28 राज्यों और संघ शासित प्रदेशों में कक्षा में रोके न जाने की नीति (एन.डी.पी.) प्रचलन में थी। आर.टी.ई. से पहले, 36% राज्यों में कक्षा पाँच तक और क्रमशः दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी कक्षा तक, तुलनीय अनुपात में; दो राज्यों में चार दशकों से एन.डी.पी. प्रचलन में थी।

आर.टी.ई. ने 01 अप्रैल 2010 से कक्षा आठ तक, व्यापक और सतत मूल्यांकन (सी.सी.ई) के प्रावधान के साथ, सभी राज्यों में कक्षा में रोके न जाने की नीति को अनिवार्य कर दिया। इसके पीछे अन्तर्निहित विश्वास यह है कि हर बच्चा सीख सकता है और महारत हासिल कर सकता है, केवल सीखने की व्यक्तिगत गति भिन्न हो सकती है। इसलिए सीखने के व्यापक संकेतों को परिभाषित करने से, जिसमें संज्ञानात्मक और अन्य क्षेत्र जिन्हें पाठ्यविषयेतर क्षेत्र कहा जाता है दोनों आ जाते हैं, बच्चे के अधिगम और विकास पर नजर रखने में सहायता मिलती है। इन संकेतकों के आधार पर लगातार बच्चे का आकलन करने से उन सम्भावित क्षेत्रों को मजबूती प्रदान करने में मदद मिलती है जिनमें शायद बच्चा 'पीछे छूट गया हो'। अतः अगर कोई बच्चा नहीं सीख रहा है तो इसका कारण या तो वे संरचनाएँ हैं जो अधिगम को ठोस सीमाओं या चरणों में बाँधकर रख देती हैं या स्कूल और कक्षा की प्रक्रियाएँ हैं।

कक्षा में रोके न जाने की नीति (एन.डी.पी.) की बहुत आलोचना हुई है। सबसे बड़ी आपत्ति यह कि इसकी वजह से शिक्षक और विद्यार्थी अधिगम को गम्भीरता से नहीं लेते, कि इसके कारण शिक्षक की जवाबदेही कम हो गई है, बच्चे को उसी कक्षा में रोक लेना उपचारात्मक होगा और अन्ततः बच्चे को इससे लाभ होगा, प्रारम्भिक चरण के बाद बच्चे बड़ी कक्षाओं की पढ़ाई का सामना नहीं कर पाते इत्यादि। यूँ तो दुनिया भर में सदियों से किए गए अध्ययन इन तर्कों में से किसी का समर्थन नहीं करते लेकिन इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि कक्षा में रोका जाना स्कूल छोड़ने (ड्रॉप

आउट) का मुख्य संकेतक है, जिसके साथ और भी कई बातें जुड़ी हैं जैसे उच्च शिक्षा में निम्न नामांकन दर, कमाने की क्षमता में कमी और वयस्क जीवन में कुसमायोजन आदि। जो बच्चे किसी कक्षा में दुबारा पढ़ाई करते हैं उनके अधिगम के परिणाम उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियों की तुलना में कमतर होते हैं; उनमें आत्मसम्मान की भावना कम हो जाती है और वे कक्षा के क्रियाकलापों से कटे-कटे से रहते हैं। जो बच्चे तरुणावस्था में प्रवेश कर रहे होते हैं उनके लिए यह स्थिति बहुत चुनौतीपूर्ण हो जाती है क्योंकि वे उम्र में अपने सहपाठियों से बड़े होते हैं। जिन बच्चों को फेल होने का खतरा होता है वे वंचित समूहों और घरों के होते हैं जो उनकी पढ़ाई और अधिगम में उनकी सहायता नहीं कर पाते।

हालाँकि इसके कुछ तात्कालिक लाभ हो सकते हैं लेकिन ये भी कुछ ही सालों में फीके पड़ जाते हैं और उन हस्तक्षेपों से जुड़े हुए हैं जो व्यक्तिगत समर्थन प्रदान करते हैं और माता-पिता को सम्मिलित करते हैं। ये हस्तक्षेप हैं- उच्च गुणवत्ता वाले पाठ्यक्रम और शिक्षण; शिक्षकों का व्यावसायिक विकास; प्राथमिक कक्षाओं का आकार कम करना; विद्यार्थियों और शिक्षकों को एक वर्ष से अधिक समय के लिए साथ रखना; विद्यार्थी समूहीकरण के प्रभावी तरीकों का उपयोग करना; अधिगम की कठिनाइयों पर शुरू में ही ध्यान देना न कि उन्हें इकट्ठा करते जाना; प्रत्यक्ष शिक्षण, व्यक्तिगत कार्यक्रम, रचनात्मक आकलन; ग्रीष्मकालीन स्कूल, अपने बच्चों की शिक्षा और स्कूलों के साथ भागीदारी के प्रति माता-पिता का रवैया और प्रारम्भिक बाल्यावस्था कार्यक्रम। इस प्रकार फेल करना अपने आप में हस्तक्षेप नहीं हो सकता-इसे ऐसे अभ्यासों द्वारा समर्थित होना चाहिए जो प्रभावी अध्यापन और मूल्यांकन के साथ मिले हुए हों।

क्या समाधान सम्भव है?

एक बात तो स्पष्ट है कि इनमें से किसी मुद्दे पर या किसी अन्य मुद्दे पर पूरी सहमति सम्भव नहीं है। तो प्रश्न उठता है कि किसी एक विचार के पक्ष या विपक्ष में दिए गए अनेक तर्कों की जाँच कैसे की जाए और किसी ऐसे समाधान पर कैसे पहुँचा जाए जो कुछ बुनियादी सिद्धान्तों को सन्तुष्ट कर सके। संवैधानिक मूल्य ही ऐसे मूल्य हैं जो किसी चर्चा का मार्गदर्शन कर सकते हैं। इसलिए इन विवादों की जाँच करते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि उसमें साम्यता, पहुँच और गुणवत्ता के सरोकार निहित हैं या नहीं। साम्यता यानी असमानता को कम करना और किसी भी प्रकार के स्तरीकरण या विभेदन में कुछ और न जोड़ना, पहुँच यानी भौतिक वातावरण और अधिगम के अनुभवों में पहुँच और गुणवत्ता यानी उन सभी पहलुओं की गुणवत्ता जो बेहतर शैक्षिक प्रक्रियाओं की ओर ले जाते हैं और इस वजह से सीखने के परिणाम बेहतर होते हैं।

तो अब प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे निर्धारित करें कि कोई नीति साम्यतापूर्ण है, न्यायोचित है और पहुँच व गुणवत्ता दोनों सुनिश्चित करती है? एक तरीका तो यह हो सकता है कि अच्छी तरह से विचारित रूपरेखा के सन्दर्भ में जमीनी स्तर पर स्थिति की जाँच की जाए और दूसरा यह कि संसार भर में हुए अध्ययनों के प्रमाण देखे जाएँ। इस स्थिति में एक प्रश्न और सामने आता है-हमारे सन्दर्भ में कौन-सा प्रमाण विश्वसनीय और प्रासंगिक है? एक बार इस प्रश्न का सन्तोषजनक समाधान मिल जाए तो फिर शिक्षा के मूल सिद्धान्तों और नीति तैयार करने की प्राथमिकता के अनुरूप शोध के निष्कर्षों पर विचार किया जाना चाहिए।

Bibliography :

1. Central Advisory Board of Education (CABE). (2014). Report of the CABE Sub-Committee on assessment and implementation of CCE and no-detention provision (under the RTE Act 2009). New Delhi: Government of India
2. Department of School Education and Literacy, Ministry of Human Resource Development. (2012). National Policy on Information and Communication Technology (ICT) in School Education. New Delhi: Government of India
3. Dewey, J. (1916). Democracy and Education. New York: Columbia University.
4. Government of India. (1968). National Policy on Education. New Delhi: MHRD
5. Government of India. (1992). National Policy on Education 1986. Modified 1992. New Delhi: MHRD
6. Government of India. (2005). Report of the Committee on National Common Minimum Programme's Commitment of Six Per Cent of GDP to Education. New Delhi: National Institute of Educational Planning and Administration
7. Government of India. (2012). Vocational Education in Secondary Education. Presentation at Conference of State Education Secretaries. New Delhi: MHRD
8. Government of India. (2015). National Policy on Skill Development and Entrepreneurship. New Delhi: Ministry of Skill Development and Entrepreneurship.
9. Heubert, J.P. (2003). First, do no harm. Equity and Opportunity, Vol 60, No 4, pp. 26-30. Accessed at: http://www.ascd.org/ publicati ns/educati nal-leadership/dec02/vol60/num04/First,- Do-No-Harm.aspx

10. Ikeda, M., I., García, E. (2014), Grade repetition: A comparative study of academic and non-academic consequences. OECD Journal: Economic Studies, Vol. 1. Accessed at http://dx.doi. org/10.1787/eco_studies-2013-5k3w65mx3hnx
11. Levitt, R., Janta, B., Wegrich, K. (2008). Accountability of teachers. Literature review. Cambridge: Rand Corporation.
12. Ministry of Education, Government of India. (1953). Report of the Secondary Education Commission. Mudaliar Commission Report. New Delhi: Government of India
13. Ministry of Education, Government of India. (1966). Education and National Development. Report of the Education Commission 1964-66. New Delhi: Government of India
14. National Council for Educational Research and Training (NCERT). (2005). National Curriculum Framework 2005. New Delhi: NCERT
15. OECD. (1998). What proportion of national wealth is spent on education? Education at a glance: OECD indicators. http://www. oecd-ilibrary.org/education/education-at-a-glance-1998_eag- 1998-en
16. Open Government Data (OGD) Platform India, Government of India. (2015). Progress Report of Village Electrification. https:// data.gov.in/catalog/progress-report-village-electrification
17. Tilak, J.B.G. (1998). Vocational Education in South Asia: Problems and Prospects. International Review of Education, Vol 34, No. 2, pp. 244-257

निमरत खण्डपुर पिछले छह वर्षों से अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में कार्यरत हैं। वर्तमान में वे अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ कंटिन्यूइंग एजुकेशन और यूनिवर्सिटी रिसोर्स सेंटर से सम्बद्ध हैं जहाँ उन्होंने व्यावसायिक विकास कार्यक्रमों में योगदान दिया है। निमरत शिक्षा नीति, शिक्षक शिक्षा और आकलन के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। वे दिल्ली के राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में रिसर्च फैलो और कोलकाता के साहा परमाणु भौतिकी संस्थान में एसोसिएट रही हैं। उन्होंने उच्च शैक्षिक पुस्तकों और पेशेवर पत्रिकाओं में सम्पादिका और एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश में शिक्षक प्रशिक्षक के रूप में भी कार्य किया है। उनसे nimart.kaur@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** नलिनी रावल